
‘बीच बहस में बचपन’ उपनिवेशकालीन भारत का एक अध्ययन

□ नंदिनी चंद्रा

पृथक पार्क, पृथक पठन सामग्री, खिलौने और नर्सरियां, यह सभी 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी के हृदय स्थल में बचपन को लेकर उभरती नई सोच के सूचक थे। सदी के आरंभिक वर्षों में उत्तरी भारत के विभिन्न शहरों और कस्बों से बच्चों के लिए प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई, इनमें शिशु (इलाहाबाद 1915) बाल सखा (इलाहाबाद 1917), बालक (लहरिया सराय एवं पटना 1927), खिलौना (इलाहाबाद 1927), बानर (इलाहाबाद 1931) और बाल गोविंद (लखनऊ 1933) के नाम उल्लेखनीय हैं। बचपन का यह संस्थानीकरण मैकाले द्वारा स्थापित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति (1835) का उपोत्पाद था। केन्द्रीकृत और अनिवार्य शिक्षा ने समूचे पाठ्यपुस्तक उद्योग को जन्म दिया जो कि न केवल मुनाफा दिलाने वाला था बल्कि छापे के पूंजीवाद के प्रसार के फलस्वरूप ज्ञान तथा सांस्कृतिक तंत्र का भी एकरूपीकरण कर रहा था। साथ ही, जैसा कि सभी जानते हैं अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य एक बिचौलिया वर्ग तैयार करना था इसलिए बचपन के सारे विशेषाधिकार भी इसी वर्ग विशेष तक सीमित हो जाते थे। हालांकि बचपन को एक सार्वभौमिक स्थिति मानते हुए इसने सार्वभौमिक बुर्जुआ मूल्यों को स्थापित करने की भी कोशिश की लेकिन वर्ग, धर्म और लिंग संबंधी विचारों ने इसके विपरीत भी असर किया। उदाहरण के तौर पर एक ऐसा समाज,

जिसमें बचपन के तमाम विशेषाधिकार ऊंची जाति की पुरुष संतानों तक सीमित थे, वह हतप्रभ था। यह पत्र इसी सवाल की पड़ताल करता है कि क्या नई शैक्षिक पूंजी ने ऐसे विचारों को बढ़ावा दिया जिन्होंने संभावित नागरिकों की भावी पीढ़ी के सशक्तीकरण या उसे आंदोलित करने में मदद की या इसने महज हिन्दी के उभरते बुद्धिजीवी वर्ग की महत्वाकांक्षा को संघटित किया।

शुरूआत के तौर पर, बच्चों के प्रति देखने के इस नए नजरिए का प्रस्थान बिन्दु क्या था ? फिलिप एटीज के यूरोप में बचपन के इतिहास पर शोध (सेन्चुरीज ऑफ चाइल्डहुड - 1962) को उपनिवेशकालीन उत्तर भारत के संदर्भ में दोहराया जाए तो कहा जा सकता है कि पूर्व में बच्चों का अस्तित्व व्यापक समाज के ही अभिन्न अंग के रूप में स्वीकृत था, जबकि अब नए विचार के चलते उनके बचपन को भिन्न तथा विशेष महत्त्व दिया गया है। बचपन की असाधारणता को बढ़ावा देने और सुरक्षित रखने के इरादे से उन्हें बाहरी प्रभावों, गली की स्वच्छंद जिंदगी, बाजार और यौनिकता इन सबसे दूर रखा गया। बच्चों के लिए बाल सुलभ माने गए विशेष इलाकों को चिह्नित किया गया, जैसे कि घर, स्कूल और पार्क। यह देखते हुए कि शिक्षाविद्, बुद्धिजीवी, अभिजात, और राजकीय तंत्र से संबद्ध तमाम लोगों ने बच्चों को एक अलग वर्ग मानने के विचार को महत्त्व दिया, यह पूछा जा सकता है कि



आखिर इस विचार के पीछे आधार क्या था ? क्या इस आकर्षण का आधार कहीं उस वक्त उभर रहे स्वाधीनता के उस बागी तेवर में तो निहित नहीं है जिसका स्थान जल्दी ही राष्ट्रवादी आंदोलन ने ले लिया था।

स्वाधीनता के इस विचार को बच्चों तक संप्रेषित किस तरह किया गया होगा ? यदि वास्तव में बच्चों को यह पढ़ाया जाना था कि स्वाधीनता एक सशक्त करने वाला और आत्म-सम्मान को ऊंचा उठाने वाला उपकरण है तो नई शिक्षण पद्धति में निहित अनुशासन के नाम पर अलगाव और अशारीरिक दंड के प्रावधान इस लिहाज से अंतर्द्वेष पेश करते थे।

नई शिक्षण पद्धति की औपकरणिक तर्कसंगति एक ऐसी आदर्श बाल संहिता कायम करने के लिए प्रतिबद्ध थी जो पूर्णतः आत्म-नियंत्रित हो। बच्चे को स्वयं ही ग्लानि और अपराधबोध हो और वह खुद अपने लिए दंड को उचित माने। हालांकि, बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब अवज्ञा और विद्रोह जैसे शब्द नागरिक और सार्वजनिक जीवन में सबसे ज्यादा गूंज रहे थे, तब भी सच्चाई यह थी कि परिवार या स्कूल में पितृसत्ता की अवज्ञा करने पर शारीरिक किस्म के दंड दिए जाते थे और इसी में आत्म-संतोष का अनुभव किया जाता था। यह पत्र तीन भागों में विभाजित है। उस राष्ट्रवादी संदर्भ का खाका बनाता है जिसमें हिन्दी भाषी बचपन अपना खास ऊर्जावान आकार ग्रहण करता है। दूसरा भाग पुराने सामाजिक संबंधों और औपनिवेशिक शैक्षिक तंत्र द्वारा लाई गई नई सांस्कृतिक पूंजी के बीच के अन्तर्द्वन्द्व की पड़ताल करता है। तीसरा और अंतिम भाग बचपन की योजना के द्वारा खुलने वाली समतावादी संभावनाओं के हास के कारणों की तलाश करता है।



1. प्रेमचंद 1920 में अपने लेख-‘बच्चों को स्वाधीन बनाओ’ में समस्या को संदर्भ में रखते हैं। मेरी राय में बचपन के नए विचार (जिसमें बच्चों को एक अलग वर्ग की तरह देखा गया है) के विशेष आकर्षण की कुंजी अपने में समेटे होने के साथ ही यह लेख जब बच्चों को औपनिवेशिक दासता की सांकलों से मुक्त कराना अनिवार्य हो गया तब राष्ट्रवादी वातावरण ने कैसे इसकी अनिवार्यता को स्थापित किया, इसके बीच का संबंध भी बताता है। स्वाधीनता की समूची बहस को परिवार के निजी प्रभाव क्षेत्र और परिवार के नवाचार की ओर ले जाकर प्रेमचंद अनायास ही भारतीय स्वत्व के अहम सवाल को भी उठा रहे थे। लेख इस बात की चर्चा करता है कि कैसे अमीर या कम अमीर भारतीय अभिभावकों में बच्चों को कठिनाइयों से बचाने और उनकी सेवा करने की एक सहज प्रवृत्ति मौजूद थी। निश्चय ही प्रेमचंद अपने

बच्चों के प्रति अति-संरक्षणवादी रवैया अपनाने वाले अभिभावकों की आलोचना करते हुए इस तथ्य को पूरी तरह नजरअंदाज कर रहे थे कि बचपन के इस नए अभियान के तहत बच्चों को श्रम से कानूनी संरक्षण प्रदान किया गया और इसे सुनिश्चित करने के लिए काम काज की न्यूनतम उम्र निर्धारित की गई (भारतीय फैक्टरी कानून 1881 और भारतीय खनन कानून 1923 में बार-बार संशोधन करते हुए बच्चों को रोजगार कानून 1938 बनाया गया)।

प्रेमचंद अपने लेख में जिन पारिवारिक संबंधों के लोकतांत्रिकरण की वकालत करते हैं, उन्हें बचपन की विचारधारा में अंतर्निहित व्यापक बुर्जुआ एजेंडा ने विस्मृत कर दिया। इस तरह बच्चों को बाहरी दुनिया से अलग रख कर और शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए जिन वांछित अनुशासनात्मक रूढ़ियों के द्वारा वे जिस आर्थिक और लैंगिक स्वायत्तता का लाभ उठाते रहे हैं, उन्हें ही बढ़ावा दे कर वर्ग विभाजन को भी बरकरार रखना सुनिश्चित कर लिया गया। इसके बदले में बच्चों की नैसर्गिक स्वतंत्रता, उनकी स्वाभाविकता और मासूम खुशियों पर अत्यधिक दबाव डाल कर इस अनुशासनात्मक प्रशिक्षण पर मुखौटा चढ़ाने का प्रयास किया गया। बच्चों को बंदर या वानर कहने की परंपरागत उपमाएं, जो अब भी हिंदी मानस को प्रभावित करती हैं, के विपरीत नया आत्म चेतन अभिभावक इस बात पर जोर देने का प्रयास करने लगा कि बच्चों का भी अपना स्वतंत्र नजरिया होता है और उन्हें भी परिवार के भीतर निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल किया जाना चाहिए। अभिभावकों के लिए सुझावों की सूची में प्रेमचंद बच्चों को कम उम्र से ही जेब खर्च दिए जाने, और उन्हें शारीरिक श्रम में लगाने के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। (जैसे खिलौने बनाने, बिना तार के उपकरण बनाने, कपड़े सिलने, पाइप बजाने, कार चलाने, बागवानी करने, नाटक में भाग लेने, मछली पकड़ने और कविता लिखने आदि)।

लेकिन यह सुनिश्चित करने के लिए कि बच्चों को वयस्कों की तरह नहीं लिया जा सकता, इसके साथ ही अभिभावकों को इस हिदायत के साथ आगाह भी किया गया कि यह सारी गतिविधियां सिर्फ और सिर्फ शौक के रूप में नहीं ली जानी चाहिएं। इन्हें रोजमर्रा का हिस्सा बनाने की बजाय साल में कुछ दिन प्रकृति के बीच में बिताते हुए किया जाना चाहिए। इस बात को स्वीकार तो किया गया कि हल चलाना, कार चलाना या नाव चलाना ऐसी सीखने योग्य गतिविधियां हैं जो किताबी ज्ञान से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन स्कूल और पाठ्यपुस्तकों की अनकही अनिवार्यता ऐसा विधान बनाते थे, जिनके विरुद्ध जाकर ही इन विविध गतिविधियों को अंजाम दिया जा सकता था। दूसरे शब्दों में वे शिक्षा के जिस स्वरूप के बारे में विस्तृत चर्चा कर रहे थे वह बुनियादी शिक्षा या



हस्त शिक्षा का ही लिखित मसौदा था। (जो गांधी की वर्धा योजना और पश्चिम के प्रगतिशील प्रायोगिक स्वरूप का सम्मिलित प्रारूप था)।

प्रेमचन्द के अनुसार बच्चों को सुरक्षा प्रदान करने का मतलब यह नहीं है कि उन्हें गैर-जिम्मेदार और कुछ भी कर सकने में असमर्थ मान लिया जाए। बल्कि उचित प्रशिक्षण यह सुनिश्चित कर सकता है कि वे जिम्मेदार और सामंजस्य बनाने में सक्षम ऐसे नागरिक बनें, जिनकी चेतना उन्हें सही आजादी की ओर निर्देशित करे।

लेकिन श्रम साध्य कार्यों और आत्म-सम्मान के संबंध में बच्चों के इस प्रशिक्षण का दूसरा पहलू भी था। इसने न केवल इन सेवा प्रदाता जातियों से उच्च वर्ग के बच्चों को सहज रूप से लाभ मिलने वाली सामंती व्यवस्था को आघात पहुंचाया बल्कि इसके क्रियान्वयन ने सैद्धांतिक रूप से जाति व्यवस्था के विघटन को भी प्रोत्साहित किया ताकि सभी बच्चे जाति और नस्ल के भेद से मुक्त हो कर राष्ट्रीय स्वाधीनता के व्यापक उद्देश्य को हासिल करने में शामिल हो सकें। इस काल में आर्य समाजी सम्मेलनों और असहयोग शिविरों के इस तरह के सम्मिलन के कारण सनातनी पिताओं और उनके आर्य समाजी बेटों के बीच गंभीर टकराव भी हुए। (देखें रामप्रसाद बिस्मिल की आत्म-कथा भाग - प्रथम) इसके अलावा राजनैतिक रैलियां भी बार-बार जातीय सम्मिश्रण की चुनौती खड़ी करती रहती थीं। असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में बड़ी संख्या में बच्चों की भागीदारी भी स्कूलों के बहिष्कार, जेलों को भंग करने, रेलों में बिना टिकट यात्रा, शहरों में देर रात तक घूमने और कानून तोड़ने की ओर इशारा करती थी। यह बचपन के नए आदर्श के विरुद्ध था क्योंकि इन बाल राजनीतिकों का अपना कैरियर बनाने से इंकार इस तथ्य के प्रति भी नकार था कि जीवन वयस्क होने पर शुरू होता है।

इसी के साथ ही यह बच्चे ये भी जानते थे कि उनके ये कार्य चेतावनी (उदाहरण) मात्र थे क्योंकि वे बच्चे हैं। वास्तव में बाल पत्रिकाओं और लोकप्रिय पारिवारिक पत्रिकाओं जैसे 'कल्याण' के पाठकों को जो सामग्री दी जाती थी वह काल्पनिक बाल शहीदों की कहानियों पर आधारित ऐसी देशभक्ति की सामग्री होती थी, जिसमें उनकी नाजुक उम्र में किए जाने वाले नायकतापूर्ण किस्से भरे होते थे। बच्चों पर मुकदमा चलाया जाना और उन्हें जेल में डालना नैतिक दृष्टि से अनुचित है, इस तथ्य की जानकारी ने भी बच्चों के आंदोलनकारी तेवर को और दृढ़ता प्रदान की। जैसे कि लाहौर के 14 वर्षीय विश्वनाथ बनर्जी से जब अदालत में पूछा गया कि क्या उसने एक राहगीर के हाथ से सिगरेट छीना तो उसका जवाब था कि

‘वह दोषी है भी और नहीं भी’ (होम पॉल 5/44, लिबर्टी, नवम्बर 7, 1931) इस अवधि में जाति रहित नाम जैसे आजाद आदि रखने की प्रवृत्ति को भी देखा जा सकता है। 1920 और 1930 के दशक की गृह राजनीतिक रिपोर्ट इन बाल राजनीतिकों की भूमिका को वरिष्ठ राजनीतिकों के वाहक या लेखक के रूप में उद्धृत करती है, जिनके अनुसार वरिष्ठ राजनीतिज्ञ बच्चों को अपनी रैलियों और प्रदर्शनों की अग्रिम कतारों में रखते थे ताकि वे खुद गिरफ्तारी या लाठीचार्ज से बचे रह सकें। हालांकि धीरे-धीरे यह देखा जा सकता है कि बच्चे स्वयं को ऐसे समूहों के रूप में संगठित कर रहे थे, जो उम्र पर आधारित थे। इस लिहाज से 1934 में अस्तित्व में आए एआईएसएफ, बाल भारत सभा और वानर सेना आदि के उदाहरणों को देखा जा सकता है। छात्र आंदोलनकारियों की बढ़ती सक्रियता भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त के मामलों की सुनवाई तक हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक एसोसिएशन (एचएसआरए) की क्रांतिकारी गतिविधियों के रूप में सामने आती है। काशी विद्यापीठ, गुरुकुल कांगड़ी और आर्य समाजी डीएवी स्कूलों जैसे शैक्षिक संस्थानों का राजनीतिकरण भी इसी का नतीजा था। ज्ञान पांडेय के अनुसार सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान गठित कांग्रेस सेवा दल, जिसमें बड़ी तादाद बाल स्वयं सेवकों की थी, इतना खतरनाक माना जाता था कि 1934 तक इसे वैधानिक मान्यता प्रदान नहीं की गई। (उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का प्रभुत्व : अधूरे संगठन का एक अध्ययन, 1926-34, ओयूपी 1978)

उस वक्त बाल राजनीतिक अपने आदर्शवाद, ऊर्जस्विता, यौवन की नैसर्गिक खूबियों से उपजी विशेषताओं, जो उनकी जैविक स्थिति की देन थी, के लिए जाने जाते थे। इस तरह बाल राजनीति की मौजूदगी ने जहां बच्चों का संबंध सिर्फ पढ़ने और खेलने से है, इस बुर्जुआ विचार को झुठलाया वहीं इसने इस विचार को स्वाभाविक स्वीकृति भी दी कि बच्चे वयस्कों से भिन्न हैं। क्या राजनीतिक धार ने सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी क्षेत्र में बचपन को भिन्न रूप में आकार लेने में मदद की ?

इस विचार को बढ़ावा देने के पीछे किसका हाथ था ? प्रेमचन्द जैसे लोगों, शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों और अन्य सार्वजनिक सोच वाले व्यक्तियों का। बाल पत्रिकाओं के उद्भव को बचपन को केंद्र में रखते हुए उन पर बहसों और चर्चाओं के लिए एक मंच के रूप में देखा जा सकता है। बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं ? उन्हें क्या पढ़ना चाहिए ? उन्हें किस लहजे में संबोधित किया जाना चाहिए ? क्या बच्चे बच्चों के लिए निकलने वाली पत्रिकाओं के लिए लिख सकते हैं ? इस तरह बाल पत्रिकाओं ने बचपन के विचार के संस्थानीकरण के लिए लंबा सफर तय किया। इन्होंने



हॉबी कक्षाओं, साहित्यिक सोसाइटियों तथा बच्चों की गतिविधियों के इर्द-गिर्द अन्य निकायों के निर्माण की समानान्तर दुनिया रची। इन पत्रिकाओं में बच्चों की राजनीतिक आंदोलनों में सक्रियता के बारे में बहुत कम लिखा जाता था, जबकि देशभक्ति के लेखों की भरमार होती थी। राष्ट्र के संदर्भ में बच्चे की स्थिति क्या होती थी ? यहां बाल शहीदों और ईश्वर की भक्ति में लीन बच्चे इन दो जुड़वां विषयों को ही आनुपातिक वरीयता दी गई। चित्रों में भी रेलगाड़ी, तितली, लड्डू या पेड़े बेचता फेरीवाला जैसे मासूम विषयों को झंडा, चरखा, खादी और राष्ट्र ध्वज जैसे प्रतीकों के साथ पिरोकर पेश किया गया। ऐसा हो रहा था क्योंकि गांधी टोपी या नेताजी की तरह की पोशाक पहने बच्चा इन पत्रिकाओं में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर रहा था। परिणामस्वरूप देशभक्त बच्चे को तत्काल और अपने आप ही राष्ट्र का समानार्थी मान लिया गया।

बच्चों के इस आदर्शीकरण का सीधा संबंध अंग्रेजी रोमांसवादियों, जिनका 19 वीं शताब्दी में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग पर काफी असर रहा, से प्राप्त बच्चों के प्रति अत्यंत रूमानी नजरिए के साथ था। ब्लैक के दैवीय प्रभामंडल वाले भोले-भाले जीव से लेकर वर्ड्सवर्थ के ल्यूसी लॉटर इन द वुडस तक, एक ऐसी असाध्य रहस्यमयी पंक्ति मिलती हैं जो बच्चे को अबोध रूप में पेश करती हैं। कम से कम एक बड़े वर्ग के लिए स्वाधीनता का अभिन्न संबंध खोई हुई अबोधता को फिर से हासिल करने से था। आजादी का सपना मूलतः गुमशुदा मासूमियत को लौटाने और औपनिवेशिक दमन के चलते लुप्त हो चुकी बाल सुलभ स्वाभाविकता को फिर हासिल करने का प्रयास था। ऐसे में बच्चे उस दुर्लभ गुण के धारक थे जो औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के द्वारा पुनः प्राप्त किया जाना था। बाल पत्रिकाओं ने अपने उदारवादी झुकाव के बावजूद संस्कृति के प्रति अपने इसी पुनरुत्थानवादी नजरिए को गहराई से स्थापित किया।

कल्याण सरीखी पत्रिकाओं में छापे रहने वाली गौरवशाली हिंदू अतीत की चर्चाएं यहां नहीं थीं और बच्चों के राष्ट्रीय सेवक संघ की शाखा सरीखी गतिविधियों में शामिल होने के उदाहरण यहां बिरले ही मिलेंगे, लेकिन कमोबेश मूंजे सरीखी सोच वाले लेख इनमें भी बहुतायत में मिल जाते थे जिनमें बच्चों के सैन्यीकरण और स्काउट गाइड तथा केडेट कोर की तर्ज पर उन्हें अनुशासित करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया हो। डॉ. बी.एस. मूंजे हिन्दू महासभा के नेता थे, तिलक के पुराने सहयोगी रह चुके थे और आरएसएस की स्थापना करने वाले पांच प्रमुख व्यक्तियों में से एक थे, उन्होंने केन्द्र की प्रांतीय विधायिका 1928 के समक्ष एक बिल रखा जिसमें भारतीय स्कूलों में बच्चों को अनिवार्य शारीरिक शिक्षा,

ड्रिल तथा रायफल चलाने का प्रशिक्षण दिए जाने की वकालत की गई। यह बिल बच्चों को अधिकारियों का सम्मान करने और अनुशासन में रहने की सीख देने के साथ ही उनको ब्रिटिश शासन के खिलाफ आंदोलन से अलग रखने का प्रबल पक्षधर था। प्रतिक्रियावादी मूंजे और प्रगतिशील प्रेमचंद के बीच यहां आम सहमति नजर आती है कि दोनों ही बच्चों की परवरिश में उनके शारीरिक स्वास्थ्य को मजबूत रखने, अपने काम स्वयं करने में सक्षम बनाने, केम्प लगाने, पर्वतारोहण करने आदि में प्रशिक्षण देने के साथ ही उन्हें गलियों में धरने, प्रदर्शन और राजनीतिक जागरण से अलग रखने की वकालत करते हैं। यानी बच्चे भूकंप पीड़ितों को राहत प्रदान करने में तो मदद करें लेकिन अस्पृश्यों को मंदिर में प्रवेश दिलाने सरीखे आंदोलनों से अलग रहें। साक्षरता, बाल-विवाह रोकने, पर्दाप्रथा और शराब के खिलाफ आंदोलन, गांवों की दशा सुधारना आदि ऐसे मुद्दे थे जिन्होंने हिंदी बाल पत्रिकाओं के सुधारवादी भोले-भाले जगत का निर्माण किया।



राष्ट्रवादी आंदोलन और मध्यम वर्ग के उदय, इन दो घटनाओं के मिलन से एक नए परोपकारी चरित्र का उदय हुआ। सामंती अर्थव्यवस्था के विघटन के बावजूद सामंती उत्पादन विधियों से परिभाषित सामाजिक बंधन मजबूत हो रहे थे और राष्ट्रवादी आंदोलन ने इसके विघटन में चौंकाने वाली भूमिका निभाई। साथ ही साथ उस समय की आत्मकथाएं भी खेतिहर ग्रामीण व्यवस्था के टूटने के बाद माता-पिता की मृत्यु, विस्थापन, गरीबी, बेरोजगारी, कैद या अन्य आकस्मिक कारणों से नष्ट हो चुकी पुरानी सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था के निर्माण के संघर्ष के बारे में बताती हैं।

इसलिए नई व्यवस्था के तहत काम करने के लिए भावी पीढ़ी को नई सामाजिक और सांस्कृतिक दक्षताओं से युक्त बनाने के लिहाज से शिक्षा की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। हालांकि नए ढांचे और शिक्षा की विषय वस्तु से बच्चों और उनके माता-पिता, नई और पुरानी पीढ़ी के बीच बार-बार अलगाव पैदा करने वाले प्रभाव भी नजर आने लगे थे और यह दिखने लगा था कि इससे समाज की अर्जित सद्भावना को गंभीर आघात पहुंच सकता है। परवरिश के नए तौर-तरीकों, दंड, अनुशासन और नए आधिपत्य ने पुरानी पीढ़ी को कम चिंतित नहीं किया था। उस वक्त हिन्दी राष्ट्रवादी प्रेस के जरिए मिलने वाली अनौपचारिक शिक्षा मौजूदा सामाजिक पूंजी और सांस्कृतिक पूंजी के बीच बनी उस खाई को भरने वाले माध्यम के रूप में उभरी, जिसे नई शिक्षा व्यवस्था गहरी करती हुई नजर आ रही थी। वैसे भी, रोजगार परिदृश्य को बेहतर बनाने के लिहाज से शिक्षा की भूमिका बहुत सीमित थी। ज्यादा



से ज्यादा शिक्षा विभाग या विधि क्षेत्र में नौकरियां मिल सकती थीं। विडंबना यह थी कि इन पेशों के दो पहलू थे, एक ओर यह अपने लाभान्वितों को नैतिकता और सेवा का पाठ पढ़ाते थे तो दूसरी ओर आय बढ़ाने वाली योजनाओं और रिश्वत के जरियों से उनके लिए नैतिक भ्रष्टाचार का रास्ता भी खुला छोड़ देते थे। पाठ्यपुस्तकों का लेखन भी कई लेखकों, शिक्षकों और बुद्धिजीवियों के लिए अतिरिक्त आय का जरिया बना।

इस सबके अलावा भारत माता की पुकार को अनसुना कर अपना कैरियर बनाना अत्यधिक आत्मग्लानि का कारण भी था। इस द्वन्द्व ने पुराने किस्म के जाति आधारित सामाजिक संबंधों को बरकरार रखने के लिए आधार उपलब्ध कराया। अंग्रेजी शिक्षा जिस नई व्यवस्था की नीतियां बताती थी, जिसमें वर्ग संतोष पर काफी जोर दिया गया था, उसे भी इस कारण यह सुनिश्चित करना पड़ा कि जाति आधारित गठबंधन को आघात न पहुंचे। फिर भी नए किस्म के अनुशासन और स्कूली शिक्षा ने स्व के प्रति नई समझ को विकसित किया जैसे कि इस नए स्वाभिमान से भरा बच्चा अपने साथ रूखी भाषा के प्रयोग या बेंत से पिटाई पर अपमानित महसूस करता। दूसरी तरफ हालांकि पुरानी सामाजिक पूंजी को नकारा जा रहा था फिर भी पुराने के प्रति पर्याप्त मोह और अनुराग भी मौजूद था। आत्मकथाओं में बड़े गर्व के साथ अध्यापकों के हाथों की पिटाई को प्रेम की सौगात के रूप में याद किया जाता था। उदाहरण के लिए अमृतलाल नागर अपनी आत्मकथा 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान' में अपने विभिन्न अध्यापकों के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हैं और उन घटनाओं को याद करते हैं जब गुरुजी भांग के नशे में उन्हें पीटते थे, मास्टर भोलानाथ अपनी 'टॉप तिन्नक' में जब बेंत से मारते थे तो शरीर में बिजली दौड़ जाती थी और कैसे उनके पिता ने उनके दस्तखत की नकल करने पर उनकी जलती हुई लकड़ी से पिटाई की थी। शिवपूजन सहाय और बनारसी दास चतुर्वेदी के संस्मरणों में पिटाई को अध्यापक की उदारता या सदाशयता के रूप में ही याद किया गया है। उग्र का अपने भाई द्वारा लातों से पीटे जाने का विवरण रोंगटे खड़े कर देने वाला है, लेकिन क्योंकि वह अपनी पत्नी और मां को भी उसी तरह तरह मारता था, यह एक दूसरे पहलू की ओर भी ध्यान दिलाता है, वह एक ऐसा व्यक्ति था जो बच्चों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करता था जैसा परिवार के अन्य कमजोर या असुरक्षित लोगों के साथ करता था। लेकिन सामान्यतः इनसे जो ध्वनि आती है वह यही है कि या तो आप पिटाई को अपने हित में मानें या उससे बच निकलें। उत्पीड़क के व्यवहार में बदलाव का तो सवाल ही नहीं उठता, हंसी मजाक की बात अलग है लेकिन उनमें अपने किए पर कोई ग्लानि का अहसास

नहीं मिलता। सिर्फ बिस्मिल के पिता का उदाहरण याद आता है जो निर्मम पिटाई करते थे लेकिन मिशनरी स्कूल के अध्यापक के समझाने पर उन्होंने अपने तौर-तरीकों में सुधार किया। (अमृतलाल नागर टुकड़े-टुकड़े दास्तान, राजपाल एंड संस, दिल्ली; 1986, बनारसी दास चतुर्वेदी - संस्मरण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1952, शिव पूजन सहाय, मेरा जीवन, पारिजात प्रकाशन, पटना 1926 पुनः प्रकाशन 1985, राम प्रसाद बिस्मिल, मेरी आत्मकथा, संवाद प्रकाशन, मेरठ 2002)

व्यक्ति को नई वर्ग स्थिति की ओर अभिमुख करने की आवश्यकता और वर्ग तथा जाति समूहों से परे पुराने अनुबंधों पर टिके रहने की आवश्यकता के बीच के अन्तर्द्वन्द्व ने बचपन की योजना में बिखराव को अवश्यभावी बना दिया। नई सामाजिक व्यवस्था की उपज रतन कुमारी वर्मा बताती हैं कि कैसे बचपन की समानता का यह वायदा सिर्फ कुछ लोगों के लिए ही पूरा हो सकता था। यह बच्ची, उसे कितनी चोट पहुंची, उसे महिमामंडित नहीं करती बल्कि स्कूल छोड़ने से पहले अपनी क्रूर कक्षा अध्यापिका से बदला लेने के लिए उसे बुरी तरह जूतों से मारती है और उसे निर्जन स्थान पर मुंह में कपड़ा टूसकर बांधकर छोड़ देती है, जबकि यही बच्ची, जिस वक्त कक्षा अध्यापिका उसे अन्यायपूर्ण सजा दे रही थी, तब चुपचाप उसे सहन करती रही थी। अपने इस लेख को उसने उचित ही शीर्षक दिया था 'दिल की हवस' (बाल सखा, अगस्त 1942 पृ. 322-4)

1930 के दशक में रतन 'बाल सखा' के लिए भेड़ाघाट, पचमढ़ी और कैलाश मानसरोवर जैसे स्थलों के बारे में अपनी यात्राओं के बारे में नियमित लेख लिखने के अलावा समय-समय पर पत्र भी लिखा करती थी। एक प्रभावशाली परिवार में जन्मी रतन अन्यायपूर्ण शारीरिक सजा के सख्त खिलाफ थी और परपीड़क अध्यापकों पर अपना गुस्सा उतारने का कोई मौका नहीं चूकती थी। निस्संदेह वह जाति व्यवस्था, पर्दा और धार्मिक शुचिता में विश्वास नहीं रखती थी और अपने परिवार की उन महिलाओं के खिलाफ भी खुल कर बोलती थी जो अब भी इन पुरानी प्रथाओं में फंसी हुई थीं। वह लड़कों के साथ मित्रता करने के लिए भी काफी उत्सुक रहती थी और जब भी वे उसके गृह नगर से होते हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने होशंगाबाद जा रहे होते तो उन्हें अपने घर बुलाया करती थी। हालांकि राष्ट्रवादी दृष्टि से उसका राजनीतिक व्यक्तित्व सभी नियमों का निर्वाह करता था लेकिन उसके जबरदस्ती के नकचढ़ेपन ने उसे हास्यास्पद बना दिया। वह सुबह की चाय और टोस्ट के बिना बिस्तर से नहीं निकल सकती, इस बारे में डींगे मारती, वह धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलती, उसके गहने, जूते और अन्य सामान जैसे घड़ियां, बेल्ट, परफ्यूम



तथा तेल की बोटलें, संक्षेप में आदर्श कांग्रेसी स्वयंसेवक की छवि के ऊपर रतन की वर्ग आकाक्षाएं हावी रहीं। पचमढ़ी के सम्पन्न परिवारों की लड़कियों को वरीयता देने की प्रवृत्ति ने रतन को कांग्रेस से और ज्यादा दूर कर दिया। इसका नतीजा यहां तक हुआ कि इसने बच्चों की इस नई स्वायत्तता और स्वाधीनता को हास्यास्पद बना दिया और इसे आगे बढ़ने की महत्त्वाकांक्षा का एक उदाहरण भर मान लिया गया।



यदि उस समय के राष्ट्रादी प्रेस में चर्चा में रहे शिक्षा के विभिन्न प्रतिमानों का अध्ययन किया जाए तो इस बात का बहुत अच्छी तरह पता चलेगा कि राष्ट्रीय आधारभूत ढांचे पर मध्यम वर्ग ने अपनी पकड़ कितनी मजबूत कर ली थी और कैसे वह इसे बनाए रखने के लिए सतत प्रयत्नशील था। नई तालीम, जिसने प्रत्यक्षतः सर्वाधिक महत्त्व हासिल किया, उसका उद्देश्य स्थानीय तथा ग्रामीण आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा व्यवस्था बनाना था लेकिन इसके साथ ही यह भी सुनिश्चित करना था कि शहरी मध्यम वर्ग को अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के द्वारा मिलने वाली भारी-भरकम शिक्षा मिलती रहे। माता-पिता के लिए परवरिश के गुर बताने वाले लेख और किताबें बचपन के विचार के निर्माण के इन महत्त्वपूर्ण वर्षों में इस फ्रायडीय विश्वास पर जोर देने के साथ बच्चों में व्यक्तिगत आधिपत्य की भावना को बढ़ावा देकर अभिभावकों को प्रभावित करने की कोशिश करते नजर आते हैं। जैसे 'बच्चों को खुलापन और ऐसी चीजें दीजिए जिन्हें वे अपना कह सकें।' मांटेसरी विधियों के लोकप्रिय होने के साथ ही नर्सरी व्यवस्था अस्तित्व में आई, इसके तहत पढाई जाने वाले कला तथा शिल्प आधारित हस्तशिल्प की गतिविधियां दिखने में कितनी भी प्रयोगशील और उदारतावादी क्यों न हों अंततः जिनका उद्देश्य बच्चे को स्वायत्त बनाना था लेकिन सच्चाई यह थी कि वे भी इस या उस तरीके से उन्हें आज्ञा पालन ही करना सिखाती थीं।

कल्याण और बालहित अपने समय की दो प्रमुख शैक्षिक पत्रिकाएं थीं। कल्याण (गीता प्रेस, गोरखपुर) में अक्सर माता-पिता एवं शिक्षा पर एक भाग होता था या विशेष बालांक भी निकाले जाते थे वहीं कालू लाल श्रीमाली की बालहित (विद्या भवन, उदयपुर) विशेषतः शिक्षाक्रम तथा बाल मनोविज्ञान पर केंद्रित थी। ये दोनों पत्रिकाएं उस वक्त शैक्षिक चिंतन की दो भिन्न धाराओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। पहली गौरवशाली हिन्दू शास्त्रीय परम्परा पर आधारित परम्परागत प्रज्ञा का लिखित रूप थी। दूसरी नितान्त पाश्चात्य थी। फिर भी दोनों के बीच एक समान धरातल था। दरअसल वर्तमान उत्तर उपनिवेशकालीन परीक्षा के बोझ से लदी

केन्द्रीकृत स्कूल व्यवस्था; जिसमें पाठ्यपुस्तकों पर अत्यधिक जोर है, श्रेणीबद्ध स्थान है, भय तथा उत्पीड़न आधारित छात्र-शिक्षक संबंध हैं, इसका मूल इसी समान धरातल की देन है। खेल आधारित पारस्परिक व्यावसायिक शिक्षा का क्या हुआ ? छड़ी को हटाना, कक्षा से बाहर आना, रूढ़ियों का अंत करना यह सब क्यों विफल हो गया ?

पहला, हिंदी संभ्रांत वर्ग प्रकाशन क्षेत्र और शिक्षा विभाग में गहरी पैठ रखता था और इसमें उनके निहित स्वार्थ थे कि शिक्षाक्रम में खेल आधारित विधियों की खोज करने की बजाए उसे पाठ्यपुस्तकों के बोझ से लादे रखा जाए। दूसरे, अध्यापक जो इन पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान को छात्रों तक पहुंचाता है उसमें निहित असीमित अधिकारों को कभी गंभीरतापूर्वक प्रश्नित नहीं किया गया। इसके उलट स्वांग तथा भंगिमायुक्त खेलों में शिक्षकों को शामिल करने के बदले सत्ता-समीकरणों के चलते उनकी स्वाभाविक पहचान भी नष्ट हो गई। अध्यापक की सामाजिक और आर्थिक सत्ता के हास के साथ ही छात्र तथा अध्यापक के बीच संबंधों में तनाव भी बढ़ता गया। उसकी छवि, एक कुंठित, दमित, क्षुब्ध और बदनाम व्यक्ति की बनती गई जो जरूरत पड़ने पर सजा देने की बजाय अकारण ही हिंसा का सहारा लेता है। अब पिटाई के पीछे कोई मकसद नहीं होता था। तीसरा, माता-पिता ने धीरे-धीरे अपने बच्चों पर अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया था, क्योंकि शिक्षा में निवेश को भावी लाभ की गारंटी के रूप में देखा जाने लगा था। शिक्षा के व्यावसायीकरण ने इसे अपरिहार्य बना दिया कि मां-बाप अपने बच्चों के साथ रोज-ब-रोज होने वाली हिंसा के प्रति अनजान रहें और उसे अनदेखा करें। हमें इस बात के कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं कि कितने बच्चे दी गई समय सीमा में काम पूरा न कर पाने के दबावों को न झेल पाने और खराब परीक्षा परिणामों के कारण माता-पिता और अध्यापकों के हाथों मार खाने के कारण घर छोड़कर भाग गए। फणीश्वरनाथ रेणु (मेरी आत्मकथा) परीक्षा के खराब नतीजे के कारण घर से भागे थे और ऐसा ही एक गुमनाम से लड़के के साथ भी हुआ था जिसकी कहानियां कई पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही थीं। स्कूलों के बहिष्कार का आह्वान शैक्षिक तंत्र के नीचे दबे कई लोगों के लिए प्राण रक्षक की तरह आया होगा। लेकिन किसी एक स्कूल से निकल भागने का मतलब निश्चय ही दूसरे स्कूल में दाखिला था। कमोबेश शिक्षा ही आर्थिक रूप से सुरक्षित भविष्य की एकमात्र कुंजी थी और पढ़ाई छोड़ देने वालों को भी देर सवेर बेहतर रोजगार पाने के लिए पढ़ाई पूरी करनी ही पड़ती थी। दूरस्थ कस्बों या शहरों में ऐसे समय में आर्थिक आश्रय या जातीय संबंध बड़े काम आते थे और ऐसे ही दौर में छात्रवृत्तियां अस्तित्व में आईं जिनका वास्तविक मकसद अपने



भाई-भतीजों को लाभ पहुंचाना हुआ करता था। इसमें भी आयु सीमा बांधकर उम्र पर आधारित वर्गीकरण किया गया जिसके चलते खास किस्म की शिक्षा एक निश्चित आयु सीमा के दौरान ही अर्जित करने की सीमा तय कर दी गई। इस तरह शिक्षा का सर्वाधिक ध्यान जातीय तथा पारिवारिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के बच्चों में पढ़ाई बीच में छोड़ने या स्कूल छोड़ कर भाग जाने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करना था। पीछे जो बच जाते हैं उसकी तो पढ़ाई को छूटना ही था। अंततः भाषा की उर्दू से हिंदी से अंग्रेजी की ओर परिवर्तनशीलता के पहलू ने सामाजीकरण के पुराने रूपों के साथ अपना काम किया। अलग-अलग भाषाओं में पाठ्यपुस्तकों के अलग-अलग पाठक समुदाय इससे पहले कभी नहीं हुए थे और इस तरह सांप्रदायिक शिक्षा के बीज पड़े, अनेक शोधार्थी जिसका जिज्ञा करते रहे हैं।

लेकिन जब तक राष्ट्रवाद का क्रांतिवादी बुखार उतरा, बच्चों की प्रश्नाकुलता और कल्पनाशीलता को भी एक मुकाम मिल गया था। उनके सपनों और आकांक्षाओं को एक वास्तविक गैर उपकरणिक घेरा मिल गया था। गांधी (नेहरू नहीं) बच्चों को मिठाई खाने से मना करने और अति भावुकता के बावजूद अत्यंत प्रिय थे। संभवतः इसलिए क्योंकि उन्होंने ही पितृसत्ता को हस्तांतरित करने में मदद की थी।

मूल पितृसत्ता से संघर्ष कर गांधी और उनके समान उदार शिक्षकों तथा सलाहकारों ने सत्ता को हासिल किया। वास्तव में बच्चे स्थानीय अधिकारियों को चुनौती दे पाते थे क्योंकि गांधी में एक वैकल्पिक सत्ता केन्द्र निहित था। मैं अपनी बात 'बालसखा' में प्रकाशित एक बच्चे के सपने से खत्म करना चाहूंगी जिसमें गांधी अनेक मुखौटों की आड़ में सत्ता का विघटन करते हैं और इनमें से अनेक मुखौटे भयावह ढंग से नितांत गांधी विरुद्ध छवियों में तब्दील होने लगते हैं। निश्चय ही प्रमुख प्रूफ संपादक सोहन लाल द्विवेदी को यह सपना बहुत आपत्तिजनक लगा और उन्होंने इसे छापने से इंकार कर दिया। लेकिन मुख्य संपादक श्रीनाथ सिंह ने इस पर अंतिम निर्णय करने के लिए इसकी एक प्रति स्वयं गांधी जी को भेज दी। गांधी ने अनापत्ति प्रमाण-पत्र के साथ इसे उन्हें वापस लौटा दिया।

सपने में गांधी बच्चे को अलग-अलग वेशों में नजर आते हैं। पहले पहल वे एक ऐसे बूढ़े व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं जो खूब मजे ले ले कर मिठाई खा रहे हैं और अविश्वास से उनकी ओर देख रहे बच्चे और उसकी मुंह फाड़े पास बैठी छोटी बहन के साथ भी उसे नहीं बांट रहे हैं। प्रत्यक्षतः गांधी के नियमों में मिठाई खाना

वर्जित है और खुद वे मिठाई खा रहे हैं। यह तो लगभग पाप ही माना जाएगा। इसके बाद में गांधी एक सुंदर लेकिन बुरी औरत में बदल जाते हैं जो कांग्रेसी स्वयं सेवकों पर लगातार हुकुम चलाती रहती है कि वे उसके लिए सुंदर-सुंदर साड़ियां लाएं, जिन सबको एक साथ पहनकर वे अपने लंबे बालों को संवार रहे हैं, उन्होंने लिपिस्टिक लगाई हुई है, पाउडर और रूज लगाया हुआ है और नाक में लोंग भी पहना है। इन सबको पहनकर वे खुद लेखक की मां से भी सुंदर नजर आ रहे हैं। जैसे इतना ही पर्याप्त नहीं था कि गांधी लड़के को थप्पड़ लगा देते हैं। इस पर लड़के को इतना गुस्सा आता है कि वह उनका पीछा करता है और एक पुलिस वाले की तरह उन्हें धर दबोच लेता है। इसके बाद वे दोनों एक नाव में बैठकर समुंदर में घूमने जाते हैं। लेकिन बीच राह में नाव में छेद हो जाता है। धीरे-धीरे गांधी अपने आश्वस्त करने वाले वास्तविक रूप में लौट आते हैं लेकिन तब तक वे अपना एक पैर गंवा चुके होते हैं और धीरे-धीरे उनकी पकड़ शिकंजे की तरह कसने लगती है। गांधी लेखक के सामने स्वीकार करते हैं, "मैं बहुत क्रूर हो गया था।" लड़का इससे इन्कार करता है और कहता है, "आप तो बहुत उदार हैं, याद कीजिए अखबार में आपकी वह फोटो छपी थी जिसमें आप गले में सांपों की माला पहने हैं और उस पर कैप्शन लगा है आपको सांपों के प्रति भी उतना ही उदार होना चाहिए।" गांधी इस पर बहुत खुश होते हैं और उसे गले से लगा लेते हैं और सपना टूट जाता है। जागते ही जो पहली बात बच्चे को याद आती है वह यह कि गांधी जी तो मिठाई नहीं खाते, "फिर मैंने कैसे उन्हें रसगुल्ला खाते देख लिया?" (गोपाल नारायण माथुर, 'स्वप्न में गांधी से भेंट' बाल सखा, सितंबर 1935 पृ. 424-26)।

हालांकि बच्चे समय और संस्कृतियों की सीमाओं से परे नैतिक पुलिस को पलट कर अपनी ओर देखने को विवश करने के लिए (नंगे राजा की तरह) हमेशा प्रख्यात रहे हैं, इस खास ऐतिहासिक मोड़ पर इस बात की जरूरत है कि आनंद के सिद्धांत में शैतानी प्रवृत्तियां देखने वालों को प्रश्नित किया जाए- रसगुल्ला क्यों नहीं? क्यों चूड़ियों (जो कि इतनी सुंदर होती हैं) को कमजोरी की निशानी माना जाए? क्यों पहनें कपड़े जबकि पशु नंगे रह सकते हैं? क्यों न करें चुगली अगर इसमें मजा आता है और खास-तौर से अगर कोई परेशान है तो? एक तरह से हिंदी बाल संसार का खास आकार जितना यूरोपीय उपनिवेशवाद का उत्पाद है उतना ही होने के अंतिम तरीकों से भी मिश्रित है। यह विडंबना ही है कि इसका बहुत कम अंश रह गया है और जो रह गया है वह धार्मिक और दंभी बचपन का उदाहरण पेश करता है। ♦

अनुवाद : देवयानी
शिक्षा-विमर्श

